चुनाव-शास्त्र और राजनीति

कुछ शुरुआती नोट्स

योगेश अटल

यह प्रोफ़ेसर योगेश अटल का अंतिम लेख है जो उन्होंने निधन से कुछ पहले *प्रतिमान* में प्रकाशनार्थ भेजा था।

यह संक्षिप्त टिप्पणी राजनीति की प्रक्रिया और चुनाव-शास्त्र के अंतर्संबंधों को समझने के लिए लिखी गयी है। लेकिन इस विषय पर विचार करने से पहले एक बार स्वतंत्र भारत के इतिहास का संक्षिप्त अवलोकन करना ज़रूरी होगा।

औपनिवेशिक राज से स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भारत में एक विशिष्ट प्रकार की राजसत्ता का उद्भव हुआ जिसके तहत स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं ने कांग्रेस के झण्डे तले एक समेकित राजनीतिक शक्ति का निर्माण किया। महात्मा गाँधी ने 'आंदोलन' तथा 'राजनीतिक दल' के बीच भेद करने की सलाह दी थी, लेकिन सत्ता का स्वाद चखने को आतुर कांग्रेसी नेताओं ने इसे नज़रअंदाज़ कर दिया। इसके बाद भारत में एक पार्टी (कांग्रेस) के प्रभुत्व का दौर शुरू हुआ। लोगों ने भी स्वराज अर्जित करने वाले नेताओं के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उन्हें राजनीतिक प्रभुत्व प्रदान किया। यहाँ इस बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि महात्मा गाँधी के परिवार के लोग सत्तासुख में भागीदार नहीं बने थे। सत्ता की कमान नेहरू परिवार के पास गयी, और चूँकि विवाह के बाद उनकी बेटी इंदिरा ने अपना गोत्र-नाम बदल कर गाँधी कर लिया था अत: इसे गाँधी परिवार कहा जाने लगा। यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि स्वतंत्रता हासिल करने के बाद गाँधी ने निस्संदेह अपने लिए एक अ-राजनीतिक भूमिका का चयन किया।

स्वतंत्रता के बाद शुरुआती चुनावों का परिणाम हमेशा एक जैसा ही रहता था। 1967 में हुए चौथे चुनावों से पहले तक मतदाता पूर्ण श्रद्धा के साथ कांग्रेस के नेतृत्व में एक दल को प्रभुत्व प्रदान करते रहे। इसके बाद राज्यों के स्तर पर स्थिति में परिवर्तन आने लगा था। 1967 में चौथी लोकसभा तथा राज्यों की विधानसभाओं हेतु साथ-साथ चुनाव करवाए गये। इन चुनावों में मतदाताओं ने कांग्रेस को एक के बाद एक कई राज्यों में परास्त किया, लेकिन केंद्र में कांग्रेस को ही सरकार बनाने का जनादेश प्रदान किया। अत: 1967 के आम चुनाव भारतीय राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान बिंदु है, क्योंकि इन चुनावों के बाद मतदाताओं की मंशा अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होने लगी।

कांग्रेस पार्टी ने भी इन संदेशों की ग़लत व्याख्या की और निरंकुश सत्ता स्थापित करने का प्रयास करने लगी। इसी कारण देश को आपातकाल का सियाह दौर झेलना पड़ा। आपातकालोत्तर दौर की शुरुआत के साथ पहले इंदिरा गाँधी तथा उनके बाद राजीव गाँधी के कड़े विरोध की शुरुआत हुई। कांग्रेस में वंशवाद की स्थापना का यह भी एक कारण बना। आपातकालोत्तर दौर में जयप्रकाश नारायण के आंदोलन के परिणामस्वरूप सभी विपक्षी धड़ों ने एक साथ आने का निर्णय लिया तथा जनता पार्टी की स्थापना की, लेकिन जयप्रकाश नारायण ने स्वयं सत्ता से दूरी बनाए रखी। इस आंदोलन से राजनीति का पूरा परिदृश्य बदल गया और कांग्रेस पार्टी एवं प्रभुत्व के एकदलीय मॉडल की चूलें हिल गयीं। विकासशील समाज अध्ययन केंद्र (सीएसडीएस) के रजनी कोठारी ने इस व्यवस्था को 'प्रभुत्व के एकदलीय मॉडल' की संज्ञा दी थी। इसका शब्दश: अनुवाद करते हुए मैंने इसे 'एक दल महाप्रबल' व्यवस्था का नाम दिया था।

कांग्रेस पार्टी को सत्ताच्युत करने वाले इस समूह में भिन्न-भिन्न विचारधाराओं से जुड़े छोटे-बड़े बहुत से दल सम्मिलित थे। लेकिन यह उत्साह शीघ्र ही ढीला पड़ गया। इसके बाद भारतीय जनता पार्टी के रूप में भारतीय जनसंघ का पुन: उद्‌भव हुआ। आठवें दशक के अंत में जनता दल का विभाजन हुआ और लालू प्रसाद यादव के गुट ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित कर लिया। इस तरह दो-दलीय व्यवस्था की सम्भावनाएँ शीघ्र ही धराशायी हो गयीं। इसके बाद भारत में गठबंधन की राजनीति का दौर शुरू हुआ, इनमें से एक का नेतृत्व कांग्रेस के हाथ में तो दूसरे का नेतृत्व भाजपा के हाथ में आया। अन्य क्षेत्रीय दल परिस्थितियों की अपनी व्याख्या के अनुसार कभी संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) तो कभी राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ (राजग) वाले गठबंधन में शामिल होने लगे।

नवें दशक, विशेषकर राजीव गाँधी की हत्या के पश्चात् कांग्रेस पार्टी का तेज़ी से पराभव हुआ। इसके बाद चुनावों के बारे में भविष्यवाणी करना बहुत टेढ़ा काम होता गया। अब स्थिति यह है कि कोई भी मतदाताओं के व्यवहार के बारे में स्पष्ट रूप से भविष्यवाणी नहीं कर सकता। इस संदर्भ में कुछेक बिंदुओं पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय सभी वर्गों को मिला कर भारत की कुल साक्षरता दर केवल 16% थी। इनमें केवल अपना नाम लिखना जानने वालों से लेकर उच्च शिक्षा प्राप्त, सभी तरह के लोग शामिल थे। लेकिन आजकल हमारी साक्षरता दर 70% से अधिक हो चुकी है। यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन है। अकेला यह तथ्य ही हमें समझा सकता है मतदाताओं को हल्के में नहीं लिया जा सकता। साक्षरता में वृद्धि के साथ-साथ जातिगत तथा अल्पसंख्यक समेकन में भी दरारें आनी शुरू हो गयी हैं।

नगरीकृत जनमानस के दैनिक व्यवहार में जाति अब कोई बड़ा कारक नहीं रह गयी है। नर्सिंग क्षेत्र में काम करने वाले लोग (इनमें नर्स से लेकर मरीज़ की देखभाल करने वाले आदि सभी शामिल हैं), रसोइए, घरेलू नौकर, ड्राइवर, ग़ैर-सरकारी तथा असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले लोग अल्पकालिक प्रवासियों के रूप में विभिन्न क्षेत्रों से शहरों में आते हैं। वे ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले अपने परिजनों को शहरों की तरफ़ लाने का मुख्य कारक बनते हैं। शहरी क्षेत्रों में जाति गड्डमड्ड हो गयी है, क्योंकि किसी के दावे को सिद्ध-असिद्ध नहीं किया जा सकता। उप-क्षेत्रीय स्तर पर यादव,

जाट और गूजर जैसे व्यापक (जेनरिक) पद किसी सगोत्रीय समूह को व्यक्त कर सकते हैं, लेकिन उनके पास अपने समूह में आगमन और निर्गमन का पर्यवेक्षण करने या जातिगत सत्यापन करने का तंत्र मौजूद नहीं है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से जाति को अपने सगोत्रीय क्षेत्राधिकार से पहचाना जाता है।

वर्तमान समय में अंतर्जातीय विवाह सामान्य परिघटना हो चुकी है। ऐसे में रोज़मर्रा के जीवन में कुलनाम का कोई अधिक महत्त्व नहीं रह गया है। 'मोदी' नाम किसी जाति का परिचायक नहीं रह गया है। हीरा व्यापारियों से लेकर तेलियों तक विभिन्न समुदायों के लोग इस कुलनाम का प्रयोग करते हैं। यहाँ तक कि जिन लोगों ने अपना पैतृक धंधा छोड़कर चाय बेचने का काम शुरू कर दिया है वे भी इस कुलनाम का प्रयोग करते रहते हैं। यह एक संयोग ही है कि अपने जातिसूचक कुलनाम से मुक्ति पाने के लिए मैंने 'अटल' तख़ल्लुस का चयन किया था और बाद में मुझे पता चला कि कश्मीर में 'अटल' एक कुलनाम भी होता है।

भारतीय मतदाता 'समर्पित' कम और 'उन्मुक्त' अधिक हैं; यह अवस्थिति अमेरिका की स्थिति से पूर्णत: भिन्न है जहाँ चल मतदाताओं के बारे में गैलप पोल के आधार पर चुनावी पूर्वानुमान लगाए जा सकते हैं। निर्वाचन से संबंधित राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन करने के बजाय भारतीय अध्येता स्वयं चुनावकर्ता (पोलस्टर) तथा चुनाव परिणामों के भविष्यवक्ता बन गये।

नये उभरते वर्ग सामुदायिक चेतना में बहुत विश्वास नहीं करते। परिवार में अधिक लोगों के रहने खाने की व्यवस्था की दुश्चिंता से मुक्ति पाने तथा सुखपूर्ण पारिवारिक जीवन के लिए ये वर्ग परिवार नियोजन की नीति अपना रहे हैं। कुछ लोग अल्पसंख्यक राजनीति का भी सहारा लेते हैं, लेकिन वे यह राजनीति अपने पारिवारिक कल्याण की क़ीमत पर नहीं करते। यह प्रस्थापना कि अल्पसंख्यक राजनीति पारिवारिक अपेक्षा को बढ़ावा देती है, निरंतर मिथ्या साबित होती जा रही है। परिवार नियोजन की तकनीकों को अपनाने के मामले में एक प्रकार की सार्वभौम वृद्धि देखी जा सकती है। परिवार नियोजन संबंधी बहुत से अध्ययन इस तथ्य का समर्थन करते हैं।

यहाँ राजनीति के बदलते स्वरूप और नगरीकरण की प्रक्रिया पर भी ध्यान दें। पचास के दशक में भारत की नगरीय आबादी मात्र 10-12% थी, अब यह बढ़कर 32% के आस-पास जा पहुँची है। इसमें ऐसे लोगों को शामिल नहीं किया गया है जो कामकाज हेतु रोज़ शहर में आवागमन करते हैं, अथवा जो कामकाज हेतु केवल कुछेक महीनों के लिए शहरों में आते हैं। यह एक बहुत बड़ी संख्या है और ये आप्रवासी गाँवों में भी लोगों के विचारों को प्रभावित करते हैं क्योंकि इनमें से अधिकांश आप्रवासी शिक्षित होते हैं। आज प्रत्येक आप्रवासी के पास मोबाइल फ़ोन है, साथ ही गाँव में रहने वाले उनके परिजन भी मोबाइल फ़ोन रखते हैं। इस सम्प्रेषण क्रांति के कारण विचारों का आदान-प्रदान बहुत अधिक बढ़ गया है और अब गाँवों में रहने वाले मतदाता भी समझ-बूझकर मतदान करते हैं। पहले ग्रामीण मतदाताओं पर कांग्रेस की एकछत्र पकड़ हुआ करती थी, लेकिन अब बहुत से कारकों के कारण इसमें सेंध लग रही है। यह एक विचित्र संयोग है कि अब कांग्रेस अपना आधार शहरी क्षेत्रों में विस्तृत करने का प्रयास कर रही है जबकि भाजपा अपनी पकड़ ग्रामीण क्षेत्रों में मज़बूत कर रही है।

इसके परिणामस्वरूप वोट बैंक की रणनीति नाकाम होती जा रही है, हालाँकि यह एक मिथ्या धारणा थी और इससे संबंधित प्रभुत्वशाली जाति जैसी धारणाओं का मूल्यांकन करते समय मैंने और

भारतीय राजनीति में असमर्पित मतदाता बहुत बड़ी संख्या में मौजूद है; असमर्पित मतदाताओं की तुलना में कांग्रेस अथवा भाजपा के समर्पित मतदाताओं की संख्या बहुत कम है। यह असमर्पित मतदाता ही विभिन्न दलों की हार-जीत सुनिश्चित करता है। स्वतंत्र प्रत्याशी भी बड़ी भूमिका निभाते हैं। ... अनुभवजन्य डेटा का संग्रह करना तथा वस्तुनिष्ठ रूप से प्रसंस्करण करना ही सामाजिक-विज्ञान का मज़बूत पक्ष है। घटनोपरांत इस तथ्य का विश्लेषण करना कि विभिन्न रणनीतियों में से कौन सी रणनीति कारगर रही तथा कौन सी रणनीति विफल रही, नि:संदेह समाज-विज्ञान का अपना विशिष्ट क्षेत्र है।

अन्य लोगों ने ऐसी धारणाओं के प्रति चेताया भी था। उत्तर प्रदेश में मुस्लिम अल्पसंख्यक तथा अन्य बहुसंख्यक जातियों के बीच गठबंधन बनाने जैसी रणनीतियाँ पहले ही बुरी तरह विफल हो चुकी हैं। विमुद्रीकरण ने बड़ी सफ़ाई के साथ ग़रीबों के नाम पर राजनीति करके अरबपति बने इन नेताओं को सत्ता से वंचित कर दिया था।

दो-दलीय व्यवस्था की सम्भावनाएँ समाप्त होने के पश्चात् हमने गठबंधन के युग में प्रवेश किया था। लेकिन वर्तमान राजनीति मुख्यत: दो गुटों में विभाजित है। भारत के इतिहास में पहली बार कांग्रेस की मुख्य प्रतिद्वंद्वी भाजपा अकेले अपने दम पर केंद्र में बहुमत प्राप्त करने में सफल रही और कांग्रेस की इतनी बुरी गत हुई कि उसे संवैधानिक रूप से सदन में विपक्षी दल के नेता का दर्जा भी नहीं दिया जा सका।

II

यह एक संयोग ही था कि जब 1967 में समाज-विज्ञान ने राजनीतिक अध्ययन का रुख किया तो उसका सामना एक विभाजित सदन से हुआ। राजनीतिक भविष्यवक्ताओं को इसकी अपेक्षा नहीं थी। तयशुदा परिपाटी खण्डित हो चुकी थी। इन पराजयों से कांग्रेस को बड़ा झटका लगा और उसकी आत्ममुग्धता हवा हो गयी। इन चुनावों से राजनीतिक भविष्यवक्ताओं की साख को भी बट्टा लगा।

यहाँ इस तथ्य को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारतीय चुनावों के व्यवस्थित अध्ययन— चुनाव-विश्लेषण शास्त्र (सेफ़ोलॉजी) का सूत्रपात भी इसी समय हुआ, 1967 के चुनावों के बारे में मेरी पुस्तक *लोकल कम्युनिटीज़ ऐंड नैशनल पॉलिटिक्स* (स्थानीय समुदाय और राष्ट्रीय राजनीति) की समीक्षा करते हुए इंग्लैण्ड के एक जर्नल ने इस शब्द 'सेफ़ोलॉजी' का प्रयोग किया था। 1967 के बाद योजना आयोग के तत्वावधान में न केवल राजनीतिक विज्ञान विभाग बल्कि समाजशास्त्र-मानवविज्ञान, मनोविज्ञान तथा लोक प्रशासन विभागों द्वारा किये गये शोध अध्ययनों के कारण भी परवर्ती चुनावी घटनाओं में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये तथा चुनावों का अध्ययन एक नये और स्वतंत्र अनुशासन के रूप में विकसित होता गया। मार्केट रिसर्च के आधार पर चुनाव परिणामों का पूर्वानुमान लगाया जाने लगा। मत वरीयता में आ रहे परिवर्तनों का विश्लेषण करने के लिए मैंने पैनल अध्ययन तकनीक का प्रयोग किया था। इसके पश्चात् अन्य बहुत से अध्येताओं ने भी इस तकनीक का प्रयोग किया। इन अध्ययनों के माध्यम से यह सिद्ध हुआ कि भारतीय मतदाता 'समर्पित' कम और 'उन्मुक्त' अधिक हैं; यह अवस्थिति अमेरिका की स्थिति से पूर्णत: भिन्न है जहाँ चल मतदाताओं के बारे में गैलप पोल के आधार पर चुनावी पूर्वानुमान लगाए जा सकते हैं। निर्वाचन से संबंधित राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन करने के बजाय

भारतीय अध्येता स्वयं चुनावकर्ता (पोलस्टर) तथा चुनाव परिणामों के भविष्यवक्ता बन गये।

भारतीय चुनावी विश्लेषकों ने एग्ज़िट पोल तकनीक का सूत्रपात किया। मतदान के बाद बाहर आने वाले मतदाताओं की राय जानने के लिए उनके सामने एक छोटी प्रश्नमाला अथवा एक अनुसूची प्रस्तुत की जाती है। एग्ज़िट पोल की महत्ता के बारे में भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयी हैं। जब अकादमिक जगत में सामाजिक विज्ञान एक 'विज्ञान' के रूप में प्रवेश पाने का प्रयास कर रहा था तो उसके सामने 'भविष्यवचनीयता' का निकष रखा गया। हालाँकि कुछेक प्राकृतिक परिघटनाओं के बारे में सही-सही भविष्यवाणी कर पाना सम्भव है; कुछेक घटनाओं के बारे में आंशिक रूप से भविष्यवाणी की जा सकती है तथा कुछ परिघटनाओं के बारे में क़तई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। ऐसी अनुत्तरित परिघटनाओं को अज्ञेय अथवा अज्ञात की संज्ञा प्रदान की गयी तथा इन्हें विज्ञान का दर्जा प्रदान नहीं किया गया। इस मापदण्ड के आधार पर एक लम्बे समय तक सामाजिक परिघटनाओं को विज्ञान की परिधि से परे माना जाता रहा। इसके विपरीत, सभी आधुनिक विज्ञानों की शुरुआत सत्य का वस्तुनिष्ठ विवरण करने के साथ हुई। इसमें भविष्यवचनीयता को उनका विशेष लक्षण नहीं माना गया।

लेकिन चुनाव-विश्लेषण शास्त्र ने एग्ज़िट पोल की सहायता से भविष्यवाणी का प्रयास किया जाता है। इसके अंतर्गत सैम्पल में शामिल प्रतिवादियों को प्रतिनिधि सिद्ध करते हुए उनके प्रत्युत्तरों को सारणीबद्ध किया जाता है तथा इसका सामान्यीकरण करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाते हैं। जहाँ पर ये पूर्वानुमान सही सिद्ध हुए वहाँ पर चुनावशास्त्र की विश्वसनीयता बढ़ी। चुनावी विश्लेषण में संलग्न विभिन्न एजेंसियों को चुनावी परिणामों का पूर्वानुमान लगाने में भिन्न-भिन्न मात्रा में सफलता प्राप्त हुई। जहाँ वे विफल हुए, वहाँ उन्होंने चूक वाले बिंदुओं को पहचानने के लिए अपनी विधि का पुन: विश्लेषण किया। वर्तमान समय में, हालाँकि पूर्वानुमान सबका इच्छित लक्ष्य होता है, सरकार ने एग्ज़िट पोल पर रोक लगा दी है क्योंकि यह पूर्वानुमान ऐसे मतदाताओं के निर्णय को प्रभावित कर सकता है जिन्होंने इसके परिणाम प्रकाशित होने तक मतदान नहीं किया है।

एजेंसियों द्वारा एक अन्य विधि का भी प्रयोग किया जाता है, यह प्राक्कल्पनात्मक होती है। इसमें परिकल्पनात्मक प्रश्न पूछे जाते हैं : यदि आज चुनाव करवाए जाएँ तो आप किसे वोट देंगे? तकनीकी रूप से यह एक मूल्यवर्धित प्रश्न भी है तथा आलोचकों का तर्क है कि इस प्रकार की परिकल्पनात्मक परिस्थितियों के प्रत्युत्तर लोगों के चयन को प्रभावित नहीं करते हैं।

स्पष्टत: भविष्यवचनीयता सुधारात्मक कार्रवाई करने की दिशा में बहुत उपयोगी है। समय से पहले सचेत होने तथा आवश्यक कार्रवाई करने हेतु भविष्यवाणी की आवश्यकता होती है। भारी वर्षा या सूखा, अकाल अथवा अभिवहन यदि बिना पूर्वसूचना के, अचानक आ जाएँ तो सामान्य नियम बाधित होते हैं और बड़ी क्षति का कारण बनते हैं। चुनावों के संदर्भ में पूर्वानुमान मुख्यत: जिज्ञासावश लगाए जाते हैं, लेकिन चुनाव-पूर्व सर्वेक्षण परस्पर प्रतिद्वंद्वी दलों को सचेत कर सकते हैं तथा वे पूर्वानुमान को ग़लत साबित करने के लिए आवश्यक सुधारात्मक कार्रवाई कर सकते हैं। तर्कशास्त्र के क्षेत्र में 'आत्म-सम्पूरक' तथा 'आत्म-निरसित' पूर्वानुमानों के बीच भेद किया जाता है।

लेकिन एग्ज़िट पोल इससे भिन्न होते हैं। एक बार जब मतदान हो जाता है तो परिणाम सुनिश्चित हो जाता है। एग्ज़िट पोल पर आधारित कोई भी पूर्वानुमान केवल जिज्ञासा ही शांत कर सकता है; हालाँकि इसके कारण जनता में असंतोष बढ़ सकता है, अनियमितताओं के आरोप लग सकते हैं और यहाँ तक कि चुनाव की प्रक्रिया पर ही प्रश्न-चिह्न लगाया जा सकता है— उदाहरण के लिए, ईवीएम मशीनों में गड़बड़ी या भ्रष्ट अधिकारीगण।

भारत में चुनाव-विश्लेषण संबंधी शोध के शुरुआती चरण में चुनाव परिणामों का पूर्वानुमान लगाने की अक्षमता शोधकर्ताओं को चुनावी शोध हेतु उत्साहित नहीं कर पाती थी। जब मैंने एक समाजशास्त्री के तौर पर 1967 के चुनावों के अध्ययन का निर्णय लिया तो मैं एक राजनीतिक विश्लेषक

तथा एक भविष्यवक्ता के रूप में अपनी सीमाओं से भलीभाँति अवगत था। मेरा अध्ययन, तथा उसी प्रकार के अन्य कई अध्ययन, 1967 चुनावों के बारे में एक प्रकार का व्याख्यात्मक अध्ययन था। इसी वर्ष योजना आयोग के वित्तपोषण तथा सहयोग से चुनावों के बारे में अध्ययन की शुरुआत हुई थी। इस नवीन विषय का अन्वेषण करने के लिए मनोविज्ञान, समाजशास्त्र-मानवविज्ञान, राजनीतिक विज्ञान तथा लोक प्रशासन के अध्येता पहली बार एक साथ आये।

अजीब बात यह है कि इनमें से कोई भी अध्येता चुनावी पूर्वानुमानों में रुचि नहीं ले रहा था। हर कोई यह मानकर चल रहा था कि 'एक दल महाप्रबल' व्यवस्था के सामने कोई चुनौती मौजूद नहीं है। लेकिन उसी चुनाव में पूर्व-स्थापित मॉडल से विचलन प्रारम्भ हुआ। कांग्रेस को लगभग सभी राज्यों से केंद्र में सरकार बनाने का जनादेश प्राप्त हुआ, लेकिन इसी समय आयोजित किये गये विधानसभा चुनावों में कांग्रेस को कई राज्यों में पराजय झेलनी पड़ी। भारत की राजनीतिक संस्कृति को एक झटका सा लगा था। अब चूँकि कांग्रेस की विजय 'पूर्वनिर्धारित' नहीं रह गयी थी, अत: इसके बाद अध्येता अचानक चुनाव परिणामों में रुचि लेने लगे। चुनाव परिणामों में लोगों की रुचि एक नवीन विषय बन गयी। चुनाव-विश्लेषण विज्ञान ने चुनावी दौड़-धूप की बजाय चुनाव परिणामों में रुचि लेना शुरू कर दिया। इसके कारण चुनावी पण्डितों का उद्‌भव हुआ और आगे चलकर चुनाव-विश्लेषण अध्ययन के क्षेत्र में मार्केट रिसर्च का आगमन हुआ। वर्तमान समय में बहुत सी एजेंसियाँ चुनावी पूर्वानुमान लगाने हेतु वोटिंग रिसर्च करती हैं तथा चुनावी पूर्वानुमान के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए एक-दूसरे के साथ होड़ भी करती हैं। वर्तमान समय में बहुत सी एजेंसियाँ इस प्रकार के शोध में मुब्तिला हैं तथा वे 'सही-शुद्ध' चुनावी पूर्वानुमान लगाने के क्षेत्र में एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करती हैं। कभी-कभी कोई एक एजेंसी सफल अथवा असफल हो जाती है। साथ ही, राजनीतिक दल भी अपने पक्ष में वोट बैंक का निर्माण करने के लिए पैंतरेबाज़ी दिखाते हुए मिथ्या पूर्वानुमान भी प्रकाशित करवा देते हैं।

यहाँ इस बात पर विशेष ज़ोर दिये जाने की आवश्यकता है कि भविष्यवाणी करना समाज-विज्ञान की विशिष्टता नहीं है। पिछले कुछ वर्षों के दौरान चुनाव-विश्लेषण शास्त्र के क्षेत्र में चुनावी पूर्वानुमान ही केंद्रीय विषय-वस्तु बन गये हैं। लेकिन यह एक प्रकार की मार्केटिंग है जिसके अंतर्गत वोटिंग रिसर्च करवाने वाली विभिन्न एजेंसियाँ पूर्वानुमान लगाने हेतु एक-दूसरे के साथ प्रतिद्वंद्विता

करती हैं। जिनके पूर्वानुमान संयोगवश परिणामों के आस-पास सिद्ध हो जाते हैं वे इसका श्रेय लेकर फिर इसी प्रकार के शोध में मुब्तिला हो जाती हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 1967 के चुनावों में एकमुश्त मतदान का स्थापित ढाँचा खण्डित हो गया था। इन चुनावों में लोगों ने कांग्रेस को केंद्र में तो सरकार बनाने दी लेकिन विधानसभा स्तर पर उससे सत्ता छीन ली। चूँकि यह विपक्ष की प्रथम जीत थी और वह जनाकांक्षाओं की पूर्ति करने में असमर्थ रहा अतः राज्य स्तर पर बहुमत दल अथवा गठबंधन के नेता के रूप में कांग्रेस पार्टी वापसी करने में सफल रही। विरोधी दलों ने भी उन्हीं तुच्छ रणनीतियों का अनुसरण किया जो कांग्रेस के पतन का कारण बनी थीं। वे मुश्किल से हाथ आये इस मौक़े का भरपूर लाभ उठाना चाहते थे। यहीं पर उनसे चूक हो गयी और यही भारतीय विपक्ष के क्षय का कारण बना।

गुजरात और हिमाचल के हालिया विधानसभा चुनावों को राजनीति के इस बदलते विन्यास में रखकर ही देखा जाना चाहिए। हालाँकि एकमुश्त मतदान की अपेक्षा किसी को नहीं थी, लेकिन यह स्पष्ट था कि गुजरात में भाजपा अपने कार्यकाल में वृद्धि करने वाली है। केवल हिमाचल में ही सत्ता की बागडोर बदलने की सम्भावना थी। विपक्ष ने गुजरात में भाजपा के 'कुशासन' तथा वादाख़िलाफ़ी के सुराग़ों की तलाश करनी शुरू की। उसने धर्मनिरपेक्षता के नारे का त्याग किया तथा जातिगत राजनीति को भी प्रोत्साहन दिया। हमेशा धर्मनिरपेक्षता की बात करने वाली कांग्रेस ने जाति को अपना मुख्य हथियार बना लिया। स्थिति यहाँ तक पहुँची कि ख़ुद राहुल गाँधी भी— जिनका पितृवंश पारसी धर्मावलम्बी था, स्वयं को हिंदू बताने लगे तथा पूरे ताम-झाम के साथ सोमनाथ मंदिर गये। सोमनाथ यात्रा के बाद भी उन्होंने समय-समय पर केवल गुजरात में ही नहीं, बल्कि अपने निर्वाचन क्षेत्र अमेठी में भी मौक़े तलाश कर मंदिरों की यात्रा की। इस नाटकीय प्रदर्शन के कारण राहुल गाँधी की चर्चा तो ख़ूब हुई, लेकिन इससे उनकी धर्मनिरपेक्ष छवि को गहरा धक्का लगा।

गुजरात की परिस्थिति विचित्र थी। वहाँ भाजपा पिछले दो दशक से सत्ता में रही थी। इस लिहाज़ से विपक्ष के पास सरकार की कमियों को चिह्नित करने के तमाम अवसर मौजूद थे। लेकिन, चूँकि यह प्रधानमंत्री का अपना गृह राज्य था, इसलिए पार्टी के लिए यहाँ जीत दर्ज करना जन्म-मरण का प्रश्न बन चुका था। कांग्रेस गुजरात के विकास के बारे में कोई सकारात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं कर पाई। मतदाताओं को यह भी लगा कि केंद्र में भिन्न दल की सरकार होने के कारण कांग्रेस अपने वादे पूरे करने में विफल रहेगी। इसके अलावा मतदाताओं को यह भी लगा कि राज्य एवं केंद्र सरकार का एजेण्डा भिन्न होना राज्य के लिए अहितकारी सिद्ध होगा। नगरीय क्षेत्रों में जनता सरकार के कामकाज से ख़ुश नहीं थी, लेकिन उसने भाजपा को हार का सामना नहीं करने दिया। मतदाताओं की नज़र में गुजरात में भाजपा की हार अनुत्पादक सिद्ध होती। इस तरह, गुजरात में भाजपा की जीत की भविष्यवाणी करने के लिए किसी राजनीतिक पण्डित की आवश्यकता नहीं थी।

इसके विपरीत, हिमाचल प्रदेश में एक स्थानीय राजा के नेतृत्व में चल रही सरकार पर घोर कुशासन के आरोप लग रहे थे। भाजपा के बढ़ते प्रभाव तथा राज्य में विकास की मंद गति को ध्यान में रखते हुए हिमाचल प्रदेश के लोगों ने व्यावहारिक तरीक़े से मतदान किया। इसीलिए उन्होंने पूर्व भाजपाई मुख्यमंत्री प्रेम कुमार धूमल को तो मत नहीं दिया, लेकिन जनादेश भाजपा को ही थमाया। किसी विचारधारा के प्रति अपनी प्रतिबद्धताओं को किनारे रखते हुए हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि आज का मतदाता स्वतंत्रता संघर्ष की कहानियों के प्रति अधिक अवगत नहीं है। राष्ट्र स्वतंत्रता सेनानियों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर चुका है और अब यह वंशवाद का समर्थन करने के पक्ष में नहीं है। इस बार तो देश ने उप-राष्ट्रपति पद के लिए असली गाँधी के वंशज को भी हरा दिया।

III

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

1. इस तथ्य का संज्ञान लिया जाना चाहिए कि मत-संख्या स्वत: ही विजित सीटों की संख्या में परिवर्तित नहीं होती। नि:संदेह, यदि मत संख्या में फ़ासला बहुत अधिक है तो परिणाम पर अवश्य फ़र्क़ पड़ता है।

2. मत-प्रतिशत में कमी आने के बावजूद कोई पार्टी अधिक संख्या में सीटें जीत सकती है। वास्तव में, कुछेक निर्वाचन क्षेत्रों में मत-संरचना में आया परिवर्तन पार्टी को सजग तो कर सकता है, लेकिन यह अंतिम परिणाम नहीं बदल सकता है।

3. यदि चुनावों के दौरान किसी पार्टी द्वारा जीती गयी सीटों की संख्या समान रहती है तो इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए उस पार्टी की समर्थन-संरचना अक्षुण्ण बनी हुई है। कोई पार्टी किसी एक क्षेत्र में सीटें हार सकती है किंतु अपने विरोधियों की सीटों पर भी जीत दर्ज कर सकती है। ऐसी स्थिति में खोया हुआ समर्थन संतुलित हो जाता है। एक जगह सीट हारने तथा दूसरी जगह सीट जीतने से सीटों की संख्या तो समान रहती है लेकिन यह प्रभावक्षेत्र में आये परिवर्तन को भी अभिव्यक्त करती है।

4. भारतीय राजनीति में असमर्पित मतदाता बहुत बड़ी संख्या में मौजूद है; असमर्पित मतदाताओं की तुलना में कांग्रेस अथवा भाजपा के समर्पित मतदाताओं की संख्या बहुत कम है। यह असमर्पित मतदाता ही विभिन्न दलों की हार-जीत सुनिश्चित करता है। स्वतंत्र प्रत्याशी भी बड़ी भूमिका निभाते हैं।

5. पार्टी के प्रति वफ़ादारी के कारण दल में स्थिरता तो आ सकती है, लेकिन इसके कारण स्वतंत्र मतदाता राजनीतिक दलों को दण्डित करने की क्षमता खो बैठते हैं।

6. अमेरिका की तरह सत्ता परिवर्तन समर्पित मतदाताओं पर नहीं, बल्कि असमर्पित मतदाताओं पर निर्भर करता है।

अंत में, इस तथ्य पर ज़ोर देने की आवश्यकता है कि अनुभवजन्य डेटा का संग्रह करना तथा वस्तुनिष्ठ रूप से प्रसंस्करण करना ही सामाजिक-विज्ञान का मज़बूत पक्ष है। घटना के उपरांत इस तथ्य का विश्लेषण करना कि विभिन्न रणनीतियों में से कौन सी रणनीति कारगर रही तथा कौन सी रणनीति विफल रही, नि:संदेह समाज-विज्ञान का अपना विशिष्ट क्षेत्र है।

फ़िलहाल देश के अन्य कई राज्यों में विधानसभा चुनावों की प्रक्रिया चल रही है। गुजरात, हिमाचल और उत्तर पूर्वी राज्यों के बाद अब राजस्थान और कर्नाटक के चुनाव में चुनावी विजय में अधिक रुचि दिखाई जा रही है। 2019 में लोकसभा के लिए आम चुनाव होने हैं। ऐसे में लोग भाजपा और कांग्रेस की विजय की सम्भावनाओं का मूल्यांकन कर रहे हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार के पूर्वानुमान प्रस्तुत किये जा रहे हैं। नि:संदेह सभी प्रतिस्पर्धी दल बहुमत प्राप्त करने की कोशिश में लगे हुए हैं तथा अपनी-अपनी जीत सुनिश्चित बता रहे हैं। दूसरी तरफ़, पूर्वानुमानों के माध्यम से अपनी आमदनी करने वाली बाज़ारू एजेंसियाँ चुनाव-प्रक्रिया के विभिन्न चरणों में मतदाताओं का मंतव्य जानने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के शोध— अधिकांशत: सैंपल सर्वेक्षण कर रही हैं; साथ ही गुप्त रूप से एग्ज़िट पोल भी तैयार कर रही हैं। नि:संदेह, इन एजेंसियों के डेटा और पूर्वानुमानों में पर्याप्त भिन्नता है, लेकिन जिस एजेंसी के पूर्वानुमान वास्तविक परिणाम के अधिक नज़दीक होंगे वह एजेंसी अपने गुणवत्तापूर्ण शोध का गुणगान करेगी और जो इस मामले में चूक जाएँगी वे अपने पूर्वानुमानों की तरह-तरह से व्याख्याएँ करेंगी। सच्चाई यह है कि पूर्वानुमान पूर्णत: सांयोगिक होते हैं।